दूसरी नज़र

■ पी चिदंबरम

दो घोषणापत्रों की कहानी

भाजपा का चुनावी घोषणापत्र आठ अप्रैल को लगभग बिना किसी शोर-शराबे के जारी हुआ। भाजपा के लिए ऐसी सादगी अस्वाभाविक है! इसके कई कारण हैं। जैसा कि एक तमिल व्यंग्य है, भाजपा का घोषणापत्र नाश्ते के बाद बची हुई इडलियों से रात को खाने के लिए उपमा बनाने की तरह है!

एक कहावत है कि स्वाद का पता खाने के बाद ही चलता है। कांग्रेस का घोषणापत्र जारी हुए बारह दिन हो चुके हैं और अब भी यह चर्चा में है। प्रधानमंत्री मोदी अपने किसी भाषण को बिना कांग्रेस घोषणापत्र की बातों का जिक्र किए पूरा कर ही नहीं सकते। वे इस बारे में न तो पढ़ते हैं, न कुछ सुनने के लिए तैयार हैं और झूठ बोलने में उन्हें कोई शर्म महसूस नहीं होती। मैं चाहता हूं कि भाजपा में कोई प्रधानमंत्री को कांग्रेस का घोषणापत्र या कम से कम मेरा पिछले हफ्ते (सात अप्रैल) छपा लेख पढ़वाने की हिम्मत दिखाए।

भाजपा की डींगें

जारी होने के एक दिन बाद ही भाजपा का घोषणापत्र चर्चा का विषय नहीं रहा। इसकी अनुवाद और छपाई संबंधी गलतियों को छोड़ भी दे सकते हैं, लेकिन इस पूरे दस्तावेज में जिस तरह का अहंकार झलक रहा है, उसे कैसे नजरअंदाज किया जा सकता है?

मैं इन डींगों के बारे में बताता हूं-

- आयुष्मान भारत का धन्यवाद, जिससे पचास करोड़ भारतीयों को स्वास्थ्य बीमा मिला (**तथ्य**- आयुष्मान भारत योजना का लाभ सिर्फ अस्पताल में भर्ती होने पर ही मिलता है, और चार फरवरी, 2019 तक इस योजना के तहत सिर्फ दस लाख उनसठ हजार छह सौ तिरानवे लाभार्थी ही अस्पताल में भर्ती हुए हैं और इलाज करवाया है)।
- असंगठित क्षेत्र के चालीस करोड़ से ज्यादा लोग अब पेंशन योजना का लाभ उठा सकते हैं। (**तथ्य**- इस योजना के तहत अब तक सिर्फ अट्ठाईस लाख छियासी हजार छह सौ उनसठ लोगों ने ही पंजीकरण करवाया है। अब या निकट भविष्य में किसी को भी इसका लाभ नहीं मिल पाएगा)।
- अब तक हम निन्यानवे फीसद स्वच्छता का लक्ष्य हासिल करने के करीब हैं। (**तथ्य**- इस बात के ढेरों सबूत हैं कि बड़ी संख्या में जल्दबाजी में जो शौचालय बनाए गए थे, वे इस्तेमाल नहीं होने (लोगों की आदत की वजह से) या फिर पानी की कमी के कारण बेकार हो गए। इसके अलावा, श्री बेजवाडा विल्सन से पूछिए, वे आपको बताएंगे कि यह योजना स्थायी रूप से सेप्टिक टैंक बनाने और मैला ढोने को खत्म करने के लिए बनाई गई थी)।
- मुद्रा योजना का आभार, जिसकी वजह से छोटे शहरों और कस्बों के नौजवानों का उद्यमी बनना संभव हो पाया है। (**तथ्य**- मुद्रा लोन का औसत आकार 47575 रुपए है और इतने कर्ज से अगर एक रोजगार भी सृजित हो जाए तो यह अपने में बड़ा चमत्कार होगा)।
- अब एक से ज्यादा कई तरह से पूर्वोत्तर राष्ट्र की मुख्यधारा के करीब है। (**तथ्य**- राष्ट्रीय नागरिक पंजिका की कवायद और नागरिक (संशोधन) विधेयक ने तो और कबाड़ा करके रख दिया है और पहले के मुकाबले पूर्वोत्तर बाकी भारत से कहीं ज्यादा दूरी महसूस कर रहा है और ऐसा अविश्वास भी जो पहले कभी नहीं देखा गया)।
- नोटबंदी, जीएसटी... हमारी सरकार की ऐतिहासिक उपलब्धियां रही हैं। (**तथ्य**- नोटबंदी ने भारतीय अर्थव्यवस्था को चौपट करके रख दिया और खामियों भरे जीएसटी ने उद्योग-धंधों, खासकर छोटे और मझोले उद्योगों को रुला डाला।)

व्यक्ति विशेष बनाम आम आदमी

ये उदाहरण पर्याप्त हैं। अब जरा घोषणापत्र बनाने के तरीके पर नजर डाल लें। घोषणापत्र समिति के अध्यक्ष श्री राजनाथ सिंह ने दावा किया कि उन्होंने करोड़ों लोगों से संपर्क किया था और दस्तावेज 'लोगों की इच्छा' से प्रेरित है। इस दावे की पोल तो परिचय के आखिरी अनुच्छेद से ही खुल जाती है, जिसमें कहा गया है- 'यह सार प्रधानमंत्री मोदी की दूरदृष्टि पर आधारित है'। कांग्रेस के घोषणापत्र और भाजपा के घोषणापत्र में यही फर्क है और जब हम दोनों पार्टियों के घोषणापत्रों को देखते हैं तो यह फर्क एकदम साफ हो जाता है।

राष्ट्रीय सुरक्षा और आंतरिक सुरक्षा को ही लें। भाजपा ने सशस्त्र बलों को मजबूत करने के लिए और रक्षा उपकरणों के स्वदेशी उत्पादन की बात कही है। हर सरकार ने यह किया है और ऐसा ही भविष्य में करेगी भी। इसके आगे, राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद, या राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार बोर्ड या राष्ट्रीय आतंकवाद-निरोधी केंद्र (एनसीटीसी) या नेटग्रिड के बारे में घोषणापत्र में एक शब्द नहीं कहा गया। डाटा सुरक्षा, साइबर सुरक्षा, वित्तीय सुरक्षा, संचार सुरक्षा या व्यापारिक मार्गों की सुरक्षा के बारे में कोई जिक्र नहीं है।

कृषि को लें। भाजपा ने किसानों की आय दोगुनी करने जैसे पूरे न हो सकने वाले वादे को ही दोहराया है, लेकिन इस लक्ष्य को हासिल करने के लिए कोई उपाय नहीं सुझाया गया है। कांग्रेस ने एपीएमसी कानून को रद्द करने, किसानों का बाजार बनवाने और कृषि उपज के लिए व्यापार को सभी प्रतिबंधों से मुक्त करने, जिसमें निर्यात और अंतरराज्यीय व्यापार भी शामिल है, जैसे बड़े और साहसी कदम उठाने का वादा किया है।

स्कूली शिक्षा को लें। भाजपा ने लगभग उन्हीं वादों पर जोर दिया है जैसे गुणवत्ता, स्मार्ट कक्षाएं, और ज्यादा केंद्रीय विद्यालय और नवोदय विद्यालय। जबकि कांग्रेस ने स्कूली शिक्षा को राज्य सूची में हस्तांतरित करने, शिक्षा का अधिकार कानून लागू करने, शिक्षा के लिए बजट आवंटन बढ़ा कर जीडीपी का छह फीसद करने और कक्षा नौ से बारह तक के लिए व्यावसायिक प्रशिक्षण अनिवार्य करने का वादा किया है।

गणित की पहेली

दोनों घोषणापत्रों में फर्क का जो बड़ा कारण है वह मोदी-केंद्रित दृष्टि और आमजन के प्रति दृष्टि का फर्क है। भाजपा का घोषणापत्र सिर्फ श्री मोदी के ज्ञान और बुद्धिमान पुरुषों और महिलाओं को सुनने की उनकी अनिच्छा तक ही सीमित है।

अब मैं एक पहेली के साथ इसका समापन करता हूं। भाजपा ने कांग्रेस के न्याय के वादे पर हमला बोला और कहा कि जब यह कार्यक्रम पूरी तरह लागू हो जाएगा और पांच करोड़ परिवार इसमें आ जाएंगे तो हर साल तीन लाख साठ हजार करोड़ खर्च होंगे जो वित्तीय रूप से व्यावहारिक नहीं होगा और बोझ पड़ेगा। फिर भी, भाजपा पक्के भरोसे के साथ यह दावा करती है कि वह पांच साल में कृषि-ग्रामीण क्षेत्र में पच्चीस लाख करोड़ का निवेश करेगी और सौ लाख करोड़ रुपए ढांचागत क्षेत्र पर खर्च करेगी। यानी दोनों मिलाकर एक सौ पच्चीस लाख करोड़ रुपए हुए और इसे पांच से भाग दे दिया जाए तो पच्चीस लाख करोड़ रुपए सालाना हुए। बताइए, 3.6 लाख करोड़ सालाना ज्यादा है या पच्चीस लाख करोड़ सालाना?

दिल्ली का दामन

अमरेंद्र किशोर

दिल्ली नहीं मानती कि उसके दामन में कोई आदिवासी रहता है। लिहाजा राज्य सरकार की विकास प्राथमिकता में वहां के आदिवासियों को लेकर कोई कार्ययोजना नहीं है। सवाल है कि क्या राज्य सरकार के पास आदिवासी आबादी न होने के इस निष्कर्ष का कोई पुख्ता प्रमाण है या नौकरशाह खुद इसे मान चुके हैं? जैसे विभाजन के समय पाकिस्तान और बाद में देश के मुख्तलिफ इलाकों से पलायन कर कई नस्लों और जाति-प्रजातियों के लोग आकर यहां बसते गए, उसी तरह वे लोग नहीं आए जो नस्लीय पूर्वाग्रह या विकास की चपेट से उजड़े या उखड़े लोग थे, जो आदिवासी थे। सच यह है कि दफ्तरशाही की गलतफहमी के चलते पहाड़ों और जंगलों से निकल कर आए लाखों लोग 'आदिवासी' की पहचान से मुक्त होकर दिल्ली में रहते हैं, जबकि उनके पूर्वजों-पुरखों को इतिहास के पुरालेखों में आदिवासी कहा गया है।

पुरालेखों और प्रमाणों पर नौकरशाही माथापच्ची नहीं करना चाहती। झारखंड में अगरिया समुदाय दशकों से आदिवासी कहलाने को तरस रही है। वे प्राचीन लौहशिल्पी हैं, हैमेटाईट पत्थरों से लोहा निकालने का काम कई युगों से करते चले आ रहे हैं। इस जनजाति का पूरा नाम असुर अगरिया है, लेकिन झारखंड के सरकारी अभिलेखों में इनका उल्लेख केवल 'अगरिया' के रूप में किया गया है। लिहाजा, वे अनुसूचित जनजाति और अन्य पारंपरिक वनीधिकार अधिनियम, 2006 के तहत विशेषाधिकारों का खालिस लाभ चाहते हैं। चूंकि जिलाधिकारियों ने उन्हें आदिवासी प्रमाण-पत्र जारी नहीं किया, इसलिए वे अधिनियम के तहत अधिकारों का दावा नहीं कर सकते। उल्लेखनीय है कि 2003 में केंद्र सरकार की अधिसूचना के बाद छत्तीसगढ़ में अगरियों को पहले ही आदिवासी का दर्जा दिया जा चुका है, लेकिन झारखंड सरकार ने अभी इस पर अमल नहीं किया है। यही स्थिति पूर्वोत्तर भारत के कोच, राजबोंग्सी, ताई अहोम, मटक और मोरन समुदायों की है, जो आदिवासी कहलाने को तरस रही हैं।

प्रसंग

> सवाल है कि अतीत को ढोते दिल्ली की आबादी के ढाई फीसद आदिवासियों को विकास के मॉडल में शामिल किए जाने की कोई मंशा दिल्ली सचिवालय की है या बदनामी के अंधेरे खोखल में अतीतजीवी बने रहना उन आदिवासियों की नियति है?

राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली में भी आबादी का एक बड़ा हिस्सा अपनी संजातीय और नस्लीय पहचान के लिए तरस रहा है। वैसे तो राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण 2011-12 के मुताबिक दिल्ली की कुल आबादी का ढाई फीसद हिस्सा आदिवासियों का है। इन आदिवासी समुदायों ने अपनी खानाबदोश खासियत को लेकर इतिहास में भली-बुरी पहचान बनाई है। इस बारे में फिलिप मिडोज टेलर (कॉन्फेशन ऑफ ए ठग/1939) लिखते हैं कि 'लूटपाट की उनकी जीवन-पद्धति ने उन्हें इतना खूंखार बना दिया कि एक राज्य दूसरे राज्य को परेशान करने के मकसद से इन आपराधिक तबियत और हरकतों को अंजाम देने वाले आदिवासियों का सहारा लेते थे। यानी पड़ोसी राज्य के राजा-रजवाड़ों के इशारे पर वे आपराधिक आदिवासी राहजनी करते थे। उन अपराधजीवी नस्लों को रजवाड़ों ने संरक्षण दिया तो लूट का एक बड़ा हिस्सा राजकोष में भरा जाने लगा।' हद तो तब हो गई जब इन अपराधी नस्लों ने बर्बरता की हदों के पार जाकर हत्या का सिलसिला शुरू किया। इसके बाद 1871 में क्रिमिनल ट्राइबल एक्ट अस्तित्व में आया। दिल्ली और उसके आसपास रहने वाले कोई दर्जन भर आदिवासी समुदाय इसी अमानवीय सूची में शुमार किए गए।

क्रिमिनल ट्राइबल एक्ट के तहत सैकड़ों समुदायों पर अपराधी नस्ल का ठप्पा लगाया गया। उसके बाद इस कानून की आड़ में सरकार के कपट भरे कठोर व्यवहार की शुरुआत हुई। इसके सबसे बड़े भुक्तभोगी बने सांसी लोग, जो आज भी दिल्ली में रहते हैं। अंग्रेजों के गजटों-गजेटियर में उन तमाम आदिवासी समुदायों के नाम लिखे और वे 'अपराधी कबीले' या सरकश जनजाति घोषित किए गए। लिहाजा, पुलिसिया दमन से परेशान इनके मर्द या तो जंगलों में रहते थे या पकड़े गए तो जेलों में- नतीजतन, औरतें शराब की भट्टियों में रहती थीं या समाज के चौधरियों के हरम में या सत्ता के बिछौने पर। बावरिया, सांसी और बंजारा समुदायों को लेकर समाज जहां चौकन्ना और सतर्क था वहीं गाड़िया लोहार अपने लौह-कर्म से देश की मुख्यधारा के साथ सहज होकर जीवनयापन करते रहे। यहां तक कि खुली बाजार-व्यवस्था के पहले तक जब दिल्ली का दायरा आज के मुकाबले कम था, तो ये कलंदर-मदारी-नट और संपेरों की कलाबाज और कारीगर जनजातियां आसपास बस्तियों में डेरा जमा कर अपने परिवार का भरण-पोषण करतीं थीं। बीती सदी के अंत तक दिल्ली की कच्ची बस्तियों में डेरा डाल कर पुरखों से संपेरे सांपों का तमाशा दिखा कर, बहेलिए चिड़ियों का शिकार कर और कलंदर बंदर-भालू नचा कर अपना पेट भरते थे।

पर जमाना बदला, तो माहौल बदला। यह बदलाव वाजिब था। बल्कि कानून के प्रावधानों और उन प्रावधानों की पेचीदगी ने जैसे वक्त के पहिए को रोक दिया। वन्य-जीव संरक्षण अधिनियम तो 1972 से अस्तित्व में था, मगर 1990 में इसे सख्ती से लागू कर मदारी-कलंदर और संपेरों के पेशे पर रोक लगा दी गई। वन्य-जीवों को बचाने की मुहिम की व्यावहारिक और वाजिब जरूरत महसूस की गई। लिहाजा, दिल्ली की उन अनियमित बस्तियों में विभिन्न प्रजाति के सांपों के रखने की मनाही हो गई। मदारियों और कलंदरों का बंदर-भालू तमाशा थम गया। बहेलियों के तीर-कमान और गुलेल की मार का कौशल इतिहास की कंदराओं में जा सिमटा। ऐसे में हजारों मदारी-कलंदर और बहेलिए भीख मांगने को मजबूर हुए। मगर कोई इकतीस साल पुराना भिक्षावृति निवारण कानून रोजी-रोटी के उनके वैकल्पिक उपाय में अड़चन बना। भिक्षावृति निवारण कानून की परवाह किए बगैर ये जनजातियां दिल्ली और उसके समीपवर्ती उपनगरों की सड़कों पर सक्रिय हो गईं। सिलसिला यहीं नहीं थमा, भूख ने उन्हें इतना समझौतावादी बना दिया कि इस जनजातीय समाज की लड़कियों की वजह से राष्ट्रीय राजधानी के कई इलाके 'हॉट बेड ऑफ दिल्ली' के नाम से चिह्नित और चर्चित हुए। इन मदारियों-कलंदरों-संपेरों के पुनर्वास और रोजगार के लिए राष्ट्रीय राजधानी के नागरिक संगठनों ने दिल्ली सचिवालय से लेकर मंत्रालयों की देहरी पर नाक रगड़ी और गुजारिशें की, लेकिन नतीजा कुछ नहीं निकला।

यह सच है कि दिल्ली के समीपवर्ती इलाकों के लुटेरे बावरिया और यहां के विभिन्न इलाकों में रहने वाले सांसी जनजाति लंबे समय से विधि-व्यवस्था को चुनौती देते रहे हैं। उनके आपराधिक चरित्र ने दिल्ली को बहुत अस्त-व्यस्त किया। एच. गुप्ता ने अपनी किताब 'ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ द ठग्स एंड देयर एक्टिविटीज'(1959) में लिखा है कि 'साल 1911 में देश की राजधानी कलकत्ता से दिल्ली हस्तांतरण के मुद्दे पर एक बड़ी समस्या आपराधिक जनजातियों की गतिविधियों को लेकर थी। ब्रिटिश लेखक डेविड एच डेले बाद में लिख गई अपनी किताब 'द पुलिस एंड पोलिटिकल डेवलपमेंट इन इंडिया' (1959) में इस रिवायत को विस्तार दिया है। दिल्ली में रहने वाला आज का प्रमुख जनजातीय समाज सांसी भले अतीत में अपराधजीवी रहा है और यह भी सत्य है कि हाल के वर्षों तक दिल्ली पुलिस के लिए सांसी सिरदर्दी रहे हैं। मगर हालात बदले हैं। उन्हें अपने आपराधिक अतीत का अपराधबोध भी है, लेकिन सिविल सोसाइटी इस धारणा से मुक्त नहीं हो पाया है कि सांसियों में मुक्ति की छटपटाहट है।'

शिक्षाविद हेनरी स्च्वार्ज बताते हैं कि 'समाज का यह पूर्वाग्रह बहुत स्वाभाविक है, जो किसी कानून और उसकी बाध्यता की जोर-आजमाइश से मिटाया नहीं जा सकता। अपराध से उपजे आतंक से ग्रस्त समाज का इंद्रियबोध और अपराध से लोहा लेती सरकार की चेतना इतनी सुस्त और गंदली होती है, जो सुधार के लिए तत्पर किसी अपराधी पर मेहरबान होने में झिझक रखती है, बल्कि ऐसी चर्चाओं से भड़कती भी है।'

सवाल है कि अतीत को ढोते दिल्ली की आबादी के ढाई फीसद आदिवासियों को विकास के मॉडल में शामिल किए जाने की कोई मंशा दिल्ली सचिवालय की है या बदनामी के अंधेरे खोखल में अतीतजीवी बने रहना उन आदिवासियों की नियति है?

अच्छे काम, बुरे काम

जयापुर गांव देखने गई पिछले हफ्ते। यह वही गांव है, जिसे नरेंद्र मोदी ने गोद लिया था बनारस का सांसद बनने के बाद आदर्श गांव बनाने के वास्ते। बनारस से जयापुर तक मुझे एक घंटा लगा। रास्ते में इतने सारे गंदे, बेहाल गांव दिखे कि जयापुर में परिवर्तन और विकास दिखने की उम्मीद टूट गई। वहां पहली बार गई थी 2017 में। उस वक्त परिवर्तन के नाम पर सिर्फ यह दिखा गांव में दाखिल होते ही कि एक नया बैंक खुल गया था और गांव की कच्ची, टूटी सड़क को पक्की करने का काम शुरू हो गया था।

अब सड़क बन गई है और दूसरा बैंक भी खुल गया है। पक्की सड़क गांव के अंदर तक जाती है, लेकिन प्रधान श्रीनारायण पटेल के घर तक पहुंचने के लिए मुझे एक कच्ची सड़क पर उतरना पड़ा। प्रधान अपनी दोमंजिला कोठी के सामने बैठे हुए थे। उन्होंने बताया कि गांव में अकसरियत भूमिहार और पटेलों की है और कोई पांच सौ पैंतीस घर हैं यहां। मैंने जब पूछा कि परिवर्तन और विकास के नाम पर क्या कुछ हुआ है, जबसे मोदी ने जयापुर को गोद लिया है, तो उन्होंने कहा कि पूरी तरह बदल गया है गांव। 'दो बैंक आ गए हैं, एक पोस्ट ऑफिस आ गया है, घरों में पानी पहुंच गया है, स्कूल बन गया है और बिजली अब दिन में बाईस घंटा रहती है।' मैंने जब उनसे पूछा कि क्या वे पूरी तरह संतुष्ट हैं गांव के विकास से, तो उन्होंने कहा, 'विकास की यात्रा अनंत होती है, तो अब हम चाहते हैं कि गांव की गलियां भी पक्की कर दी जाएं।' प्रधान से मिलने के बाद मैं गांव के अन्य लोगों से मिली और जिनसे भी बातें हुईं सबने कहा 'हर हर मोदी, घर घर मोदी'।

पिछले दिनों मैंने अपनी चुनावी यात्राओं में कई गांवों में रुक कर लोगों से बातें की हैं, अन्य राज्यों में, उनमें अक्सर मोदी की प्रशंसा सुनने को मिली है। लेकिन शहरों में तस्वीर अलग है। छोटे कारोबारी और दुकानदार जो कभी मोदी के सबसे बड़े प्रशंसक हुआ करते थे, अभी तक झेल रहे हैं नोटबंदी और जीएसटी से हुआ नुकसान। मोदी के दौर में उनको नुकसान इतना हुआ है कि प्रशंसा करने की उनमें हिम्मत नहीं रही है, लेकिन मोदी को फिर से वोट देने के लिए मजबूर हैं, क्योंकि उनको विकल्प नहीं नजर आता है कोई।

वक़्त की नब्ज़

■ तवलीन सिंह

> मोदी ने चुप रह कर अपना ही नुकसान किया है, इसलिए कि विकास के नाम पर बहुत कुछ करने के बाद भी कलंक-सा लगा रहा है उनकी सरकार के माथे पर जो उनके अच्छे कार्यों को भुला देता है।

एक दुकानदार के शब्दों में, 'मैं जब देखता हूं उन नेताओं की तरफ जो गधबंधन में हैं या राहुल गांधी की तरफ, तो मैं सोचता हूं कि भाई इनमें से अगर कोई बन जाता है प्रधानमंत्री, तो देश तबाह हो जाएगा। सो, मजबूरी में शायद मोदी को ही वोट देना पड़ेगा एक बार फिर।'

भारत के मतदाताओं का एक वर्ग है लेकिन, जो किसी हाल में मोदी को वोट नहीं देने वाला है और वह हैं मुसलमान। पिछली बार उत्तर प्रदेश जैसे राज्य में अगर मुसलमानों ने अपना वोट न दिया होता मोदी को, तो शायद पूर्ण बहुमत नहीं मिलता। लेकिन पिछले पांच वर्षों में मुसलमानों ने गोरक्षकों का जुल्म भी देखा है और यह भी देखा है कि गऊ माता के नाम पर वही कारोबार बंद हुए हैं, जिनमें मुसलमान काम करते थे। उत्तर प्रदेश के जबसे मुख्यमंत्री बने हैं योगी आदित्यनाथ, तबसे चमड़ा उद्योग तकरीबन बंद हो गया है, पशुपालन खतरे में है और अवैध बूचड़खानों की मुहिम जबसे चली है, जायज गोश्त की दुकानें भी बंद हो गई हैं। ऊपर से नफरत इतनी फैल गई है कि मुसलिम समाज ने तय कर लिया है कि मोदी अगर फिर से बनते हैं प्रधानमंत्री तो हिंदू राष्ट्र बना कर रहेंगे, जिसमें उनके लिए जगह तक नहीं होगी।

हाल में दिए गए एक टीवी इंटरव्यू में मोदी ने कहा था कि उन्होंने जो भी कुछ किया है बतौर प्रधानमंत्री, कभी यह देख कर नहीं किया है कि भला किस कौम का होता है। उन्होंने कहा कि जब किसी गांव में सड़कें बनी हैं या बिजली पहुंचाई गई है, तो उन्होंने यह कभी नहीं सोचा कि इससे मुसलमानों के लिए फायदा होगा कि नहीं। याद दिलाया कि जब सच्चर आयोग गुजरात आया था और उनसे पूछा गया कि मुसलमानों के लिए क्या किया है, तो उनका जवाब था, 'मैंने कुछ नहीं किया है मुसलमानों के लिए और हिंदुओं के लिए भी कुछ नहीं किया है। मैंने जो भी किया है गुजरातियों के लिए किया है।'

यह जवाब शायद वाजिब भी रहा होगा, तब वे मुख्यमंत्री थे एक राज्य के, लेकिन प्रधानमंत्री बनने के बाद उनको बहुत कुछ और करना चाहिए था। मोहम्मद अखलाक की हत्या के बाद अगर मोदी ने इशारा किया होता गोरक्षकों को कि वे ऐसी हिंसा बिलकुल बर्दाश्त करने को तैयार नहीं हैं, तो ऐसी घिनौनी घटनाएं शायद उसी समय बंद हो गई होतीं। मोदी ने चुप रह कर अपना ही नुकसान किया है, इसलिए कि विकास के नाम पर बहुत कुछ करने के बाद भी कलंक-सा लगा रहा है उनकी सरकार के माथे पर जो उनके अच्छे कार्यों को भुला देता है।

न्यू यॉर्क टाइम्स जैसे महत्त्वपूर्ण विदेशी अखबार जब भी इस चुनाव के बारे में कुछ छापते हैं तो हमेशा सावधान करते हैं कि मोदी अगर दुबारा प्रधानमंत्री बनते हैं तो संभव है कि भारत में हिंदू राष्ट्र स्थापित हो जाएगा, जिसमें मुसलमानों के लिए जगह नहीं रहेगी। सो, मोदी के दौर में जो अच्छे काम हुए हैं उनको भुला दिया जाता है और याद रहती है सिर्फ इस दौर में गोरक्षकों की हिंसा, जिसके कारण आज भी मुसलमान मारे जा रहे हैं। बदनाम मोदी भी हुए हैं, बदनाम भारत भी हुआ है।

उठ उठ री लघु लघु लोल लहर

चैनल 'सुपर-एक्शन' में हैं। वे वोटिंग बूथों में वोट डालने वालों की लंबी कतारें दिखाते हैं। यत्र-तत्र हुई छिटपुट घटनाओं को भी दिखाते हैं। वे कभी वोट डालने वालों के मूड को टोटोलने लगते हैं, तो कभी लहर खोजने लगते हैं कि किसकी लहर है?

लेकिन इन दिनों के वोटर बड़े ही 'सयाने' नजर आते हैं। कैराना हो या मुजफ्फरनगर, किसी कैमरे के आगे वे अपने मन की असली बात नहीं कहते। हां, कैमरों के आगे अपनी भड़ास जरूर निकालते हैं।

वोटरों की भाषा बदली-बदली नजर आती है। आजकल वे उसी राजनीतिक मुहावरे में बोलते हैं, जिस मुहावरे में एंकर, दलों के नेता और उनके प्रवक्ता बोला करते हैं।

कुछ कहते हैं कि कुछ भी नहीं हुआ। कोई विकास नहीं हुआ। सड़कों को देखो। कैसी खस्ता हाल हैं? बिजली आती कहां है? अबकी बार गठबंधन ही आएगा।... लेकिन वहां कोई एक चेहरा तय नहीं? कोई बात नहीं, चेहरा बाद में तय हो जाएगा! सब मिल कर तय कर लेंगे।...

इसके जवाब में कुछ कहते हैं कि जो सत्तर साल में नहीं हुआ था, वह पांच साल में हुआ है। दुनिया में भारत की इज्जत बढ़ी है। राष्ट्र मजबूत हुआ है, ताकत बढ़ी है। पहले देश है, बाद में कुछ और है।...

रिपोर्टरों की सबसे बड़ी समस्या है कि सर्वत्र मौजूद ऐसे धुर विरोधियों के बीच संतुलन कैसे बिठाएं? अगर अधिक आलोचना हो गई तो गए और अगर कम हुई तो भी गए! पता नहीं कि कौन बनेगा प्रधानमंत्री?

चैनलों के लिए कन्हैया कुमार नया हीरो हैं। कन्हैया का रोड शो सुपर हिट दिखता है। बेगूसराय अचानक खबरों में छा गया है। एक चैनल बेगूसराय को 'हॉट सीट' का दर्जा देता है। इंडिया टुडे के राहुल कंवल कन्हैया के घर पहुंच कर कन्हैया के घर को दिखाते हैं। एकदम साधारण सबाल्टर्न गरीब-सा घर है, जो बाकी नेताओं के घरों से एकदम कंट्रास्ट में नजर आता है। राहुल उसकी सज्जारहित कस्बाई सादगी देख चकित हैं। सीपीआई का एक नेता कहता है- 'वो हमारा उगता सितारा है'। कन्हैया दोटूक मगर सहजता से बोलते हैं, जो सुनने में भला लगता है। एक और चैनल बेगूसराय में 'कौन बनेगा प्रधानमंत्री' टाइप बहस कराता है, लेकिन जल्दी ही सब कुछ तू-तू मैं-मैं में बदल जाता है।

जब तक किसी की रैली होती है तब तक उसकी 'लहर' सी नजर आती है। लेकिन ज्यों ही रैली खत्म होती है, तो लहर भी बिला जाती है।

मायावती, अखिलेश, अजित सिंह की सहारनपुर की संयुक्त रैली लगभग सभी चैनलों पर लाइव दिखती है। मायावती पढ़ कर बोलती हैं। उनकी हर 'पंच लाइनों' को सामने बैठा जनसमूह जोरदार समर्थन देता है। वे मुसलमानों को गठबंधन को वोट देने जैसी बात कह देती हैं, जो तुरंत 'आपत्तिजनक' करार दी जाती है! कुछ एंकर भी इस पर आपत्ति करते हैं।

यूपी का चुनाव एक से एक उत्तेजक सांप्रदायिक मुहावरों से बनाया जा रहा है और इस मामले में कोई भी पक्ष कम नहीं है। जब तक 'मुसलमान' को एक पक्ष को वोट देने को कहने वाले हैं या 'अली' और 'बजरंग बली' कहने वाले हैं, तब तक आप कुछ कर लें, विभाजनकारी भाव ही पनपते रहेंगे!

जबसे चुनाव अभियान शुरू हुआ है तबसे अब तक हर दिन कुछ न कुछ 'आपत्तिजनक' कहा ही जाता है। यह सब ऐसे ही चलते रहना है। आप लाख आपत्ति करें, चुनाव आयोग बोलने वाले को सिर्फ 'चेतावनी' दे सकता है!

इंडिया टुडे में राजदीप सरदेसाई से बातचीत में चुनाव आयोग के मुखिया खुद स्वीकार करते हैं कि आयोग एक नैतिक वातावरण बनाता है। उसके अधिकार 'सीमित' हैं, लेकिन फिर भी उसने एक राजनीतिक फिल्म पर रोक लगा कर जता दिया है कि वह किसी दबाव में काम नहीं करता!

एक चैनल पर 'मैं भी चौकीदार हूं' वाले विज्ञापन के नए टुकड़े में एक युद्धविरोधी गीत सुनाई देता है। दो लाइनों के इस गीत में एक करुण-सी लय बजती है। यह 'मैं भी चौकीदार हूं' वाली मार्चपास्टी लठ्ठमार धुन से अच्छा लगता है।

इसके मुकाबले, 'मैं ही तो हिंदुस्तान हूं' वाला कांग्रेस का विज्ञापन 'न्याय' की तुक के चक्कर में अपने आप से ही अन्याय कर बैठता है। यारो! एक ऐसा गाना तो देते, जो जुबान पर चढ़ता!

वृहस्पतिवार को इक्यानवे सीटों के एकदम शांतिपूर्ण तरीके से चुनाव संपन्न होकर चुके हैं और अपने कई एंकर 'लहर' खोजने में लग गए हैं। हर बंदा पूछता फिर रहा है : कितने प्रतिशत वोट पड़े? किसकी लहर रही?

और, शाम के छह बजे ज्यों ही पड़े हुए वोटों के आंकड़े आते हैं, त्यों ही एंकरों और रिपोर्टरों की परेशानी बढ़ जाती है कि ये क्या? जरा-सी भी लहर नहीं? ये कैसा चुनाव है? आश्चर्य कि किसी की लहर नहीं दिखती। पता नहीं अब क्या होगा! जितने प्रतिशत वोट सन चौदह में पड़े। लगभग उतने ही प्रतिशत अब पड़े, तब लहर कहां गई?

चाहे प्रियंका, राहुल, वाड्रा और बच्चे अमेठी में कितना ही रोड शो करें, इन दिनों वह दिलचस्प नहीं दिखता। कांग्रस के घोषणापत्र के मुकाबले आया भाजपा का घोषणापत्र एक दिन की खबर बन कर निकल जाता है।

टाइम्स नाउ अपने एक सर्वे में अचानक एक 'लहर' खोज लाता है कि बालाकोट ने एनडीए के पक्ष में लगभग दो फीसद तक झुकाव पैदा किया है। उसे 279 सीट मिल सकती हैं, जबकि यूपीए को 145 मिल सकती है।

लेकिन इक्यानवे सीटों के वोटिंग प्रतिशत कथित 'लहर' की सारी हवा निकाल देता है। शाम तक हर एंकर चकित होकर कहने लगता है कि कमाल है! किसी की कोई लहर नहीं दिखती! लेकिन अपने भैया जी को कहां आराम? लहर के अभाव में भी वे अपना 'स्पेस' ढूंढ़ ही लेते हैं कि 'लहर नहीं' के माने यह कि कोई 'एंटी लहर' नहीं है!

यानी 'उठ उठ री लघु लघु लोल लहर!'

बाखबर

■ सुधीश पचौरी

> शाम के छह बजे ज्यों ही पड़े हुए वोटों के आंकड़े आते हैं, त्यों ही एंकरों और रिपोर्टरों की परेशानी बढ़ जाती है कि ये क्या? जरा-सी भी लहर नहीं? ये कैसा चुनाव है? आश्चर्य कि किसी की लहर नहीं दिखती। पता नहीं अब क्या होगा!

नई दिल्ली